।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक दूसरा

६२

ज्येष्ठ
२४७६

तीनलोक में सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता

एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ होता हो और दूसरी ओर तीनलोक के राज्य की प्राप्ति होती हो, तो वहाँ तीन-लोक के राज्य की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है; क्योंकि तीन लोक के राज्य मिलने पर भी वह तो अल्प-परिमित काल में छूट जाता है, परन्तु सम्यग्दर्शन का लाभ होने से जीव अक्षय मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। [भगवती आराधना]

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

इस अंक के लेख

१- भवक्लांत जीवों का विश्राम
२- अरिहन्त देव की दिव्यध्वनि का सार
३- यह मनुष्यत्व प्राप्त करके क्या करने योग्य है?
४- चार गति के भ्रमण से छूटने का उपाय
५- निश्चय और व्यवहार का सच्चा ज्ञान कब होता है?
६- निःशङ्कता

निःशङ्कता

जहाँ वीर्य भव के अन्त की निःसन्देह श्रद्धा में नहीं वर्तता, और अभी भव की शङ्का में वर्त रहा है, उसके वीर्य में अनन्त भव धारण करने का सामर्थ्य भरा है। भवरहित हुए भगवान ने कहा है कि – तेरे स्वभाव में भव नहीं हैं, और यदि तुझे भव की शङ्का पड़ी तो तूने भगवान की वाणी को या अपने भवरहित स्वभाव को नहीं माना है।

जिसका वीर्य अभी भवरहित स्वभाव की निःसन्देह श्रद्धा में नहीं वर्त सकता; मैं भवी हूँ या अभवी-इसकी भी जिसे शङ्का है, उसका वीर्य वीतराग की वाणी का निर्णय कैसे कर सकेगा? और वीतराग की वाणी के बिना उसे अपने स्वभाव की पहचान कैसे होगी? इसलिए प्रथम तो भवरहित स्वभाव की निःशंकता लाओ।

ज्येष्ठ
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–२

भवक्लांत जीवों का विश्राम

[वीर सं. २४७५ फाल्गुन शुक्ला ७ मंगलवार के दिन वीछिया में भगवान श्री चन्द्रप्रभ स्वामी आदि जिनबिम्बों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई और वहाँ के श्री जैन स्वाध्याय मंदिर में समयसारजी की प्रतिष्ठा हुई – उस प्रसंग पर परमपूज्य स्वामीजी का मांगलिक प्रवचन]

(१) भवभ्रमण का कारण–स्वरूप की समझ न होना

आत्मा अनादि-अनन्त स्वाभाविक ज्ञाता-दृष्टा पदार्थ है। उसे किसी ने नवीन नहीं बनाया है। और न उसका कभी नाश ही होता है। यह शरीरादि पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब जड़ हैं। आत्मा देह-मन-वाणी से अतीत है। अनादिकाल से आत्मा कहाँ रहा? उसने अनादि से अपने स्वरूप को भूलकर अज्ञानभाव से जन्म-मरण में परिभ्रमण करने में ही काल व्यतीत किया है। अनादिकाल से संसार में भ्रमण करते हुए जीव ने एक क्षणमात्र भी धर्म को नहीं समझा है। यदि सतसमागम से अपने आत्मा को समझकर धर्म प्रगट करे तो जन्म-मरण का नाश हुए बिना न रहे। जीव ने अनन्तकाल में दया, दान, पूजा, व्रत, तपादि सबकुछ किया है, परन्तु अपना स्वरूप उस राग से पृथक् है, उसे कभी नहीं समझा। अनन्तकाल से अपना स्वरूप समझे बिना एक के पश्चात् एक जन्म-मरण में अनन्त दुःख भोग रहा है। श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मसिद्धि की पहली ही गाथा कहते हैं कि :–

जे स्वरूप समज्या बिना, पाम्यो दुःख अनन्त,
समाजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवन्त।

आत्मा की समझ न होना ही अनन्त दुःखों का कारण है और आत्मा की समझ द्वारा ही उन अनन्त दुःखों का अन्त होता है। आत्मा अपने स्वरूप को समझे बिना ही अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। हे भाई! अब तू अपनी दया कर! सत्समागम से आत्मा को पहिचानकर अपने आत्मा को चौरासी के अवतारों के परिभ्रमण से बचा ले!

(२) भवभ्रमण से क्लांत जीव चैतन्य की शरण ढूँढ़ता है।

इस चौरासी के अवतार का जिसे भय लगा हो वह आत्मा की शरण ढूँढ़ता है। वह अंतर में ऐसा विचार करता है कि अरे रे! क्या भव धारण करने का ही मेरा स्वभाव होगा! या भवरहित शांति कहीं होगी! अज्ञानता से पुण्य-पाप करके भवभ्रमण के दुःख भोगना–ऐसा मेरा स्वरूप नहीं हो सकता! इसप्रकार जिसे भवभ्रमण का त्रास अन्तर में लगता हो वह जीव अन्तर में चैतन्य की शरण को ढूँढ़ता है। भव एक ही प्रकार का नहीं है, परन्तु स्वर्ग-नरक-तिर्यंच और मनुष्य–इन चारों गतियों में जीव ने अनंतबार अवतार लिया है। इस लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ जीव ने जन्म-मरण न किया हो। जहाँ आत्मा के आनंद में सिद्ध भगवंत विराज रहे हैं उस क्षेत्र में भी जीव ने अनंतबार एकेन्द्रिरूप में जन्म-मरण किया है। हे भाई! अब तुझे जन्म-मरण की थकावट आई है? यदि थक गया हो तो उस जन्म-मरण से छूटने के लिए चैतन्य की शरण को पहिचानकर उसके आश्रय से विश्राम ले! विश्राम किसको अच्छा नहीं लगता? जिसे थकावट न आई हो वह विश्राम नहीं ढूँढ़ता; परन्तु जिसे अन्तर में थकावट आई हो वह विश्राम ढूँढ़ता ही है।

यहाँ श्री गुरुदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि–भाई! यदि तू भव-भ्रमण से थक गया हो तो अपने आत्मा की शरण को ढूँढ़! अपने आत्मा को पहिचानकर उसी का शरण ले, इसके अतिरिक्त बाह्य में अन्य कोई तुझे शरणरूप नहीं होगा। आत्मस्वरूप को समझे बिना पुण्य भी तूने अनंतबार किये हैं, लेकिन वे तुझे शरणरूप नहीं हुए। इसलिए अब सत्समागम से आत्मस्वरूप को समझ ले। जिस आत्मस्वरूप को तू अनंतकाल में नहीं समझा है वह आत्मस्वरूप सत्समागम के बिना समझ में नहीं आ सकता, और अपने आप अकेले शास्त्राभ्यास से, स्वच्छंदपूर्वक भी नहीं समझा जा सकता; शुभराग से या बाह्य क्रिया से भी वह समझ में नहीं आ सकता। हे भाई! तू भव से थक चुका है? तुझे कुछ आत्मा की जिज्ञासा हुई है? भव से भयभीत होकर और आत्मा की रुचिपूर्वक पात्रता से यदि एकबार भी सत्समागम करे तो ऐसा नहीं हो सकता कि धर्म समझ में न आये। एक क्षण भी धर्म समझे उसके भवभ्रमण का अवश्य नाश हो जाता है।

(३) हे जीव! सुख अंतर में है!

आज श्री जिनमंदिर में श्री चंद्रप्रभ स्वामी और श्री सीमंधर स्वामी आदि भगवंतों की प्रतिष्ठा हुई है; उनमें से श्री सीमंधर भगवान वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में समवशरण में उपदेश दे रहे हैं; उसमें वे कहते हैं कि–हे आत्मा! तेरा स्वभाव ही अपार सुख से परिपूर्ण है; सुख अंतर में है, बाह्य में कहीं भी तेरा सुख नहीं है। जड़ पैसे के ढ़ेर से तेरे आत्मा की बड़ाई नहीं है और राग से भी तेरे आत्मा का बड़प्पन नहीं है; परन्तु अन्तर में जो परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति स्वभाव है उसी से तेरा

बड़प्पन है, उसे तू पहिचान! अपने को भूलकर-पैसादि में सुख है, मुझमें सुख नहीं है–ऐसा अनादिकाल से जीव ने मान रखा है, वह उसकी नपुंसकता है। जिसप्रकार नपुंसकों को अपने में विषय-भोग की शक्ति नहीं है इससे वह दूसरों को विषय-भोग करते देखकर सन्तुष्ट होते हैं। उसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थ से रहित नपुंसक हैं, वे पैसा, शरीर, स्त्री आदि में सुख मानते हैं; अपने आत्मा में जो सुख है उसे वे भोग नहीं सकते, इससे पर में सुख मानकर संतुष्ट होते हैं। मुझमें सुख नहीं है और पर में सुख है–ऐसा मानकर वह अपने आत्मा का अनादर करते हैं, इसी से भवभ्रमण में भटकते हैं। ऐसे भव-भ्रमण का जिसे भय लगा हो उससे भगवान कहते हैं कि हे जीव! तेरा सुख बाह्य में नहीं है, परन्तु आत्मा में ही है; इसलिए तू आत्मा को पहिचान!

हे भाई! 'तेरे आत्मा में ही सुख है'–यह बात सुनने से तुझे रुचती है? यदि आत्मस्वरूप रुचे तो मुक्ति हुए बिना न रहे। प्रभु! अनंतकाल में तूने सब कुछ किया है, लेकिन एक आत्मस्वरूप को कभी नहीं समझा; इसीसे तू अभी तक संसार में भ्रमण कर रहा है। अनंतानंतकाल से जिस आत्मस्वरूप को समझे बिना तू दुःखी हो रहा है उसे समझना ही धर्म का अपूर्व प्रारम्भ है। अज्ञानी जीव अपनी स्वच्छंद कल्पना से अन्य प्रकार से धर्म का प्रारम्भ मानते हैं वह मिथ्या है।

(४) आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना

आज यहाँ श्री चन्द्रप्रभ भगवान और श्री सुपार्श्वनाथ भगवान की प्रतिष्ठा हुई है, उनकी पंचकल्याणक विधि में आज निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया गया है, और आज के दिन ही उन दोनों भगवन्तों की निर्वाणतिथि है। इस प्रकार प्रतिष्ठा के मुहूर्त का और निर्वाण कल्याणक तिथि का अपने आप मेल मिल गया है। और आज ही इस स्वाध्यायमन्दिर में ग्रन्थधिराज भगवान श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा हुई है; उसमें श्री कुन्दकुन्द भगवान क्या कहते हैं? देखो, मंगलाचरण करते हुए कहते हैंः–

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो, सुयकेवली भणियं॥१॥

यहाँ समयसार के प्रारम्भ में ही आचार्य भगवान अन्तर में सिद्धत्व का प्रस्थान रखते हैं। पहले तो आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना करते है, वही सच्ची समयसार की प्रतिष्ठा है। समयसार का अर्थ है शुद्धआत्मा; अपने आत्मा में–'जो राग है, सो मैं हूँ'–ऐसी मिथ्यामान्यता को उखेड़कर 'सिद्ध भगवान जैसा शुद्ध आत्मा मैं हूँ'–ऐसी प्रतीति करके शुद्ध आत्मा की स्थापना करने का नाम समयसार की प्रतिष्ठा है। इस गाथा में आचार्य भगवान का नाद है कि–मैं सिद्ध हूँ,

तुम सिद्ध हो! तुम्हारे आत्मा में सिद्धत्व के समा जाने की शक्ति है; जो ज्ञान सिद्ध को जानकर अपने में सिद्धत्व की स्थापना करता है, उस ज्ञान में सिद्ध जितनी शक्ति है। अपने आत्मा में जो सिद्धत्व की स्थापना करे, वह जीव राग का या अपूर्णता का आदर नहीं करता; और मैं पर का करूँ, अथवा पर मुझे सहायता दे–ऐसा भी वह नहीं मानता; परन्तु स्वयं अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अनुक्रम से सिद्धदशा प्रगट करता है; फिर उसे भवभ्रमण नहीं रहता।

आचार्य भगवान यह कहकर प्रारम्भ नहीं करते कि 'तू पामर है,' परन्तु श्रोता से प्रथम ही कहते हैं कि तू सिद्ध है; तेरे अन्तर में यह बात जमती है? जिसके अन्तर में यह बात बैठी, उसने अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है, वह अल्पकाल में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। हे भाई! तुझे आत्मा का भला करना है न? तो भला करने की पराकाष्ठा क्या है? अर्थात् सबसे उत्कृष्ट भला क्या है? वह निश्चित कर! अच्छा करने की अन्तिम सीमा सिद्धदशा है। वह सिद्धदशा कहाँ से आती है? आत्मा के स्वभाव में परिपूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसी में से वह दशा प्रगट होती है। इस प्रकार पूर्णता के लक्ष्य से ही साधकत्व का प्रारम्भ होता है। जैसे किसी को पाँच हजार सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहाड़ पर पहुँचना हो तो वह तलहटी का लक्ष्य करके रुकता नहीं है, परन्तु ऊपर चोटी के लक्ष्य से बीच का सारा मार्ग कट जाता है। उसी प्रकार जिसे अपना आत्मा की पूर्ण सिद्धदशा प्रगट करना हो, उसे उस सिद्धदशा को प्रतीति में लेना चाहिए। अपूर्णदशा अथवा विकार का लक्ष्य करके रुकने से सिद्धदशा नहीं हो सकती।

चौबीस तीर्थकरों की स्तुति में आता है कि–'सिद्धाः सिद्धमम दिसंतु–हे सिद्ध भगवंतो! मुझे सिद्धि दो!' इस प्रकार स्वयं सिद्धपद की याचना करता है। 'तू सिद्ध है'–ऐसा सुनते ही जिस श्रोतो के अन्तर में सिद्धत्व की झंकार उठती है, उसके सिद्ध होने का प्रारम्भ होता है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरा'–यह बात जिसे रुचिकर मालूम हो, उसने अपने आत्मा में समयसार भगवान की स्थापना की है। यह समयसार की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा है। हे भाई! आचार्य भगवान कहते हैं कि तू सिद्ध है; अपने सिद्धत्व का अस्वीकार नहीं करना। मैं सिद्ध हूँ–इस प्रकार उल्लास से 'हाँ' कहकर सिद्धदशा की ओर चला आना। तेरी अवस्था में राग होता है, उसकी तो आचार्यदेव को खबर है, तथापि आचार्यभगवान स्वभावदृष्टि की मुख्यता से तेरे आत्म में भी सिद्धत्व की स्थापना करते हैं; इसलिए तू भी स्वभावदृष्टि से 'हाँ' कहना। इस समय राग के सामने मत देखना। जैसे किसी को बाहर गाँव जाना हो और तिथिवार ठीक न हो तो पहले प्रस्थान कर लेते हैं, और अनुकूल समय आने पर चल देते हैं। उसी प्रकार आत्मा को सिद्धगति में गमन करना है, परन्तु इस समय यह पंचमकाल है और यह साक्षात् सिद्धदशा के लिए योग्यकाल नहीं है; इससे आचार्यदेव

ने इस समय सिद्धत्व का प्रस्थान कराया है। जिसने ऐसा प्रस्थान कर दिया है, वह अपने पुरुषार्थ का स्वकाल आने पर साक्षात् सिद्ध हो जायेगा। हे भाई ! यदि तुझे इस संसार में से निकलकर सिद्ध में जाना हो तो इस समय प्रस्थान कर दे कि–'मैं सिद्ध हूँ' !

हे जीव ! ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त अन्य तेरा स्वभाव नहीं है। शरीरादि पदार्थ तुझसे भिन्न जड़ हैं, वे भी जगत् के सत् पदार्थ हैं; उनकी हलन-चलनादि क्रियाएँ उनसे ही होती हैं; तथापि, 'उन पर पदार्थों की क्रिया मेरे कारण होती है, मैं होऊँ तो उनकी क्रिया हो, नहीं तो नहीं हो सकती' –ऐसा जो भ्रम है, वह सिद्धदशा में पहुँचने के लिए महान विघ्नरूप है। यह भ्रम दूर करके आत्मा का सिद्धपद स्वीकार किए बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता, और भव-भ्रमण से विश्राम नहीं मिलता।

(५) भव का अन्त और सिद्धि का पंथ

इसकाल में इस भरतक्षेत्र के जीवों को प्रत्यक्ष सिद्धदशा नहीं है, किन्तु किसी महा भाग्यवन्त बिरले मुनि को चारित्रदशा प्रगट होती है, और 'मैं सिद्ध हूँ, मैं सिद्ध हूँ'–इस प्रकार आत्मा में प्रस्थान करके उसके मंथन से ध्यान से एकावतारी होकर दो–तीन भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अपने आत्मा में सिद्धत्व स्थापित करके इसकाल में एकावतारी अथवा दो–तीन भव में मुक्ति प्राप्त करनेवाला हो जाता है। आचार्यदेव तो समस्त आत्माओं को सिद्धरूप ही देखते हैं; क्योंकि स्वयं को सिद्धत्व की रुचि है और अल्पकाल में सिद्ध होना है। जिसे जहाँ रुचि हो, वहाँ भाग नहीं करता, किन्तु अखण्ड ही देखता है। जैसे, पिता के पास एक लाख रुपया हो और चार पुत्र हों तो प्रत्येक भाई कहता है कि 'हमारे पास एक लाख की पूँजी है' वहाँ चार भाग करके लक्ष्य में नहीं लेते और पाँचवीं एक पुत्री हो तो वह भी कहती है कि–'हमारे पास एक लाख की सम्पति है।' अन्तर में पूर्णस्वभाव की पूँजी है, उसकी रुचि नहीं है, इससे ममत्व द्वारा बाह्य में पूर्णता मान रहा है। अन्तर में स्वभाव की पूर्णता का लक्ष्य नहीं है, इससे बाह्य में पूर्णता मानकर उससे अपना बड़प्पन मानता है। परन्तु यदि एक क्षण में उस रुचि की कुलांट मारकर, स्वाभावोन्मुख हो तो स्वभाव की पूर्णता को स्वीकार करे और अपने में संयोग का अभाव माने। जिसप्रकार कुँवारी बालिका की सगाई होते ही उसका अभिप्राय बदल जाता है कि जहाँ सगाई, वह घर-वर मेरे हैं; यह घर या सम्पत्ति मेरी नहीं है। उसी प्रकार धर्मी जीव ने जहाँ अन्तरस्वभाव के साथ सम्बन्ध बांधा (रुचि हुई) कि उसे बाह्य की रुचि तुरन्त दूर हो जाती है। राग और संयोग होने पर भी, वे मेरे नहीं हैं, मैं सिद्ध समान हूँ–इस प्रकार धर्मी जीव की दृष्टि पलट जाती है। ऐसी पहचान और प्रतीति करना ही सिद्धि का पंथ है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से भव का अन्त नहीं आ सकता।

अहो! जगत के जीवों को अनन्तकाल से अपरिचित–ऐसा यह सिद्धि का पंथ ऐसे के ऐसे जल्दी से कैसे समझ में आए? अपनी उग्र पात्रता हो, तब तो क्षणमात्र में समझ में आ सकता है; परन्तु जीवों की पात्रता की कचास के कारण समझने में देर लगती है। मार्ग तो बिल्कुल सरल है, परन्तु अनन्तकाल से अपरिचित मार्ग सत्समागम के बिना कैसे समझ में आये? सत्य मार्ग क्या है–यह बात यदि सुनने को ही न मिलती हो तो जीव कहाँ से समझे? सतसमागम से रुचि को बदले तो एकक्षण में बदल सकती है। पहले से ही आत्मा में सिद्धत्व को स्वीकार किये बिना सिद्ध होने की ओर का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। 'मैं पामर हूँ, मैं रागी हूँ'–ऐसा मात्र गोखता रहे तो सिद्धदशा की ओर का पुरुषार्थ किसके बल से चलेगा? जैसे–किसी को दो घण्टे में चार कोस दूर जाना हो तो वह उतनी तीव्र गति से चलेगा। उसी प्रकार आत्मा पूर्ण सिद्ध-समान स्वभाव है, उसे दृष्टि में ले तो पूर्ण सिद्धदशा की ओर का पुरुषार्थ जागृत हो। परन्तु 'मैं विकारी हूँ, मुझे राग से लाभ होता है'–इस प्रकार पहले से ही विकार में उलझता चले, तो उसे पूर्णता की ओर का पुरुषार्थ उदित नहीं होगा, परन्तु राग में ही अटक जायेगा।

(६) ऊर्ध्वगति की श्रेणी और अधोगति की श्रेणी

धर्मी जीव को आत्मा की कैसी पहचान होती है?–उसकी यह बात है। शरीर जड़ है, मन जड़ है, वाणी जड़ है–यह तीनों मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। भव और भव का कारण जो विकार है, वह मेरे स्वरूप में नहीं है;–ऐसे भेदज्ञान से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, और वह मोक्ष का कारण है। तथा 'मैं शरीरादि के कार्य कर सकता हूँ, विकार मेरा स्वरूप है'–ऐसी जो बुद्धि है, वह अधर्म है और वह संसार का मार्ग है। जिस प्रकार मकान में ऊपर अटारी पर चढ़ने की और नीचे तलघर में उतरने की सीढ़ियाँ अलग-अलग होती हैं; उसी प्रकार आत्मा में ऊर्ध्व चढ़ने का अर्थात् सिद्धदशा का मार्ग और अधोगति का यानी स्वर्ग-नरकादि चारों गतियों में परिभ्रमण का मार्ग-भिन्न प्रकार के हैं।

अन्तर में स्वद्रव्य के ओर की श्रेणी, वह ऊर्ध्वगति अर्थात् मोक्ष का उपाय है और पराश्रयबुद्धि से पुण्य-पाप के भाव, वह अधोगति की श्रेणी अर्थात् स्वर्ग-नरक का मार्ग है। अज्ञानी स्वर्ग को ऊर्ध्वगति मानते हैं; परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि सिद्धगति ही ऊर्ध्वगति है, इसके अतिरिक्त स्वर्गादि चारों गतियों के भव, वह अधोगति है। धर्मी जीव जानता है कि–मैं ज्ञाता-दृष्टा, साक्षी चैतन्य हूँ, शरीर-मन-वाणी मेरे नहीं हैं, इस प्रकार स्वद्रव्य का अवलम्बन, वह ऊर्ध्वगति की श्रेणी है। इसे समझे बिना संसारपरिभ्रमण की होली शांत नहीं हो सकती। पहले तो संसार की रुचि हटकर स्वभाव की ओर रुचि पलट जाना चाहिए। वीर्य, रुचिअनुयायी है, अर्थात् जहाँ रुचि

हो, उस ओर पुरुषार्थ उन्मुख होता रहता है। स्वभाव की रुचि होने पर पुरुषार्थ बारम्बार उस ओर उन्मुख होता रहता, वह चारित्र का कारण है।

(७) भाई! तू उमंगपूर्वक सुन!

हे भाई तू सुन! अन्तर में इस बात की कुछ अपूर्वता लाकर सुन! भवभ्रमण में यह बात अनन्तकाल में भी सुनने को नहीं मिलेगी। यह बात समझे बिना तू अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया, महान सम्राट हुआ, नारकी और तिर्यंच भी अनन्तबार हुआ। अन्तर में निविड शुद्ध चैतन्यस्वभाव क्या है, वह तूने कभी नहीं समझा, कभी उत्साहपूर्वक बात भी नहीं सुनी; मात्र पुण्य में ही सन्तोष मानकर तू संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जिस प्रकार थूवर के पेड़ में टाँकी हथौड़े से नक्काशी का काम नहीं हो सकता, उसी प्रकार पुण्य-पाप के भावों में चैतन्य के धर्म की नक्काशी नहीं हो सकती। तीनों काल में धर्म का एक ही मार्ग है।

'एक होय त्रणकालमां, परमारथनो पंथ'

जिस प्रकार तीनों काल में घी-गुड़ और आटे से ही सुखड़ी (एक प्रकार का पकवान) बनती हैं; उनकी जगह कंकड़-पानी-धूल कोई वस्तुएँ काम में नहीं आतीं; उसी प्रकार आत्मा में त्रिकाल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तीनों की एकता से ही मोक्ष होता है; पुण्यादि से कभी मोक्ष नहीं होता। भगवान की प्रतिष्ठा के पश्चात् के प्रीतिभोज में आत्मा के पकवान परोसे जाते हैं। बादाम-पिस्ता और लड्डुओं रूप जड़ के भोजन तो सभी कराते हैं, लेकिन यहाँ तो आत्मा का अमृत परोसा जाता है; उसे चख ले तो मोक्षदशा हुए बिना न रहे।

(८) ज्ञेय–ज्ञायकपने का निर्दोष सम्बन्ध

शरीर-मन-वाणी परवस्तु हैं, उनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे उनकी 'अनुकूल क्रिया हो तो मुझे अच्छा, और प्रतिकूल क्रिया हो तो बुरा'–ऐसा कोई पक्षपात मुझे उनके प्रति नहीं है। मेरे ज्ञान की उग्रता के निकट विकार जल जाये–ऐसा चैतन्य ज्योतिमय मेरा स्वभाव है। इस प्रकार अपने स्वभाव को पहचानने की पहली बात है। दर्शनशुद्धि के बिना ज्ञान-चारित्र अथवा व्रत, तप त्रिकाल में नहीं होते। धर्मात्मा अन्तर में जानता है कि मैं एक ज्ञाता हूँ, और यह शरीरादि समस्त पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं; मैं ज्ञाता हूँ और वे ज्ञेय हैं–इसके अतिरिक्त दूसरा मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार माता के साथ पुत्र को माता के निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी उलटे व्यवहार की कल्पना स्वप्न में भी नहीं हो सकती; उसी प्रकार मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञायक हूँ और पदार्थ ज्ञेय हैं; ज्ञेय-ज्ञायकरूप निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मुझे परद्रव्यों के साथ स्वप्न में भी नहीं है। मेरा पर के साथ मात्र उसे जानने जितना ही सम्बन्ध है। जैसे–अंधेरे में

कोई मनुष्य किसी दूसरी स्त्री को अपनी पत्नी समझकर विषयबुद्धि से उसके निकट गया, लेकिन जहाँ प्रकाश में उसका मुँह दिखलायी दिया और भान हुआ कि अरे! यह तो मेरी माता है, वहाँ तुरन्त उसकी विकारवृत्ति पलट गई और माता-पुत्र के सम्बन्ध की निर्दोष वृत्ति जागृत हुई। उसीप्रकार जीव अज्ञानभाव से परवस्तु को अपन मानकर उसे इष्ट-अनिष्ट मानता है और उसके कर्त्ता-भोक्ता के भाव करके विकाररूप परिणमित होता है; परन्तु जहाँ ज्ञानप्रकाश होने पर भान हुआ कि अहो! मेरा ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव है;—ऐसे निर्दोष ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भान होते ही धर्मी के विकारभाव दूर होकर निर्दोष ज्ञायकभाव प्रगट होता है। अस्थिरता से राग-द्वेष होते हों, तथापि अन्तर में धर्मी की रुचि पलट गई है कि मैं चैतन्यस्वरूप सब का ज्ञाता हूँ; अन्य पदार्थों के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायकस्वभाव सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

(९) परम सत्य

यह साधरण एक व्यक्ति की बात नहीं है, परन्तु वस्तु के स्वभाव की बात है। तीनकाल-तीनलोक के केवली भगवन्तों की यह बात है; सर्वज्ञ भगवान की पेटेन्ट बात है। अनन्त तीर्थंकर यह बात कह गये हैं; वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धरआदि तीर्थंङ्कर भगवान इससमय भी यह बात कह रहे हैं। जिसे गणधर झेलते हैं, इन्द्र जिसका सम्मान करते हैं और चक्रवर्ती आदि महान पुरुष जिसका सेवन करते हैं—ऐसी यही परमसत्य बात है। तीनकाल, तीनलोक में यह बात पलट नहीं सकती। इसी बात को मानने से जगत् का कल्याण हो सकेगा।

(१०) भवभ्रमण के नाश के लिए धर्मात्मा की क्रिया

अहो! मेरे ज्ञायकभाव से भिन्न—ऐसे शरीर-मन-वाणी को भी मैं परद्रव्यरूप से समझता हूँ; तो फिर जो बिल्कुल पृथक् हैं—ऐसे दूरवर्ती देव-गुरु-शास्त्र अथवा स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी आदि पदार्थ तो कहाँ रह गये। शरीरादि अपने हैं—ऐसा शास्त्र निमित्त से भले ही कहें, परन्तु मुझे तो पक्षपात नहीं है—अर्थात् व्यवहार का पक्ष नहीं है; मैं उन सब के प्रति मध्यस्थ हूँ; मैं ज्ञायक हूँ और वे पदार्थ मुझे ज्ञेयरूप में हैं। इससे मैं उन पदार्थों का पक्षपात छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करता हूँ। ज्ञेय पदार्थों का आश्रय मुझे नहीं है—अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का ही आश्रय है। ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता ही धर्मात्मा की क्रिया है, और उसी के द्वारा भवभ्रमण का नाश होता है।

अरिहन्त देव की दिव्यध्वनि का सार

[वीछिया में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय फाल्गुन शुक्ला ६ के दिन केवलज्ञान कल्याणक प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनि के साररूप पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

गतांक से आगे.....

(४) भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव अरिहन्तों के मार्ग की घोषणा करते हैं।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव निम्नोक्त तीन गाथाओं में भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य प्रगट करते हुए कहते हैं कि– यही एक मोक्ष का पारमार्थिक पंथ सर्व अरिहन्तों ने स्वयं अनुभव करके जगत को दर्शाया है –

जे जाणतो अरहन्तने, गुण, द्रव्य ने पर्ययपणे;
ते जीव जाणे आत्मने, तसु मोह पामे लय खरे॥८०॥
जीव मोह ने, करी दूर, आत्मस्वरूप सम्यक् पामी ने;
जो राग-द्वेष पहिहरे, तो पामतो शुद्धात्मने॥८१॥
अरहन्त सौ कर्मो तणो, करी नाश अे ज विधिवडे;
उपदेश पण अेम ज करी, निर्वृत्त थया, नमुं तेमने॥८२॥

स्वाश्रय से परिपूर्ण केवलान प्रगट करने के पश्चात् श्री भगवान की वाणी निकली कि– अरिहन्त भगवान के आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में राग नहीं है, अपूर्णता नहीं है, निमित्त का अवलम्बन नहीं है, उनके परिपूर्ण ज्ञान विकसित हो गया है। जो जीव ऐसे अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, वह वास्तव में अपने आत्मा को ही जानता है, और उसका मोह अवश्य क्षय हो जाता है। पश्चात् शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करके उसी के आश्रय से राग-द्वेष का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। इसी विधि से सभी अरिहन्त भगवानों ने कर्मक्षय किया है, और यही उपदेश किया है। उन्हें नमस्कार हो! अद्भुत रचना है। ८० वीं गाथा में तो क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव जिस समय श्री सीमंधर भगवान के पास गये, तब उन्होंने क्षायिक सम्यक्दर्शन की बात मुख्यतया सुनी थी। भगवान की वाणी में तो सब एक ही साथ आता है, परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भगवान की वाणी में से क्षायिक सम्यक्दर्शन निचोड़ लिया था, और अपने आत्मा में इस पंचमकाल में क्षयोपशमसम्यक्त्व होने पर भी अप्रतिहत सम्यक्दर्शन का बल था, उसकी इस गाथा में झन्कार है।

जिसने अरिहन्त भगवान को जान लिया, उसने अपने आत्मा का भी वैसा स्वभाव जाना, इससे उसके स्वभाव के आश्रय की प्रतीति विकसित हो गई अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ और मोह का क्षय हो गया। श्री आचार्यभगवान ने तो यहाँ मोह के क्षय की अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात की है, उसमें गम्भीर रहस्य है। जिस सम्यग्दर्शन में बीच में भंग पड़े बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन होना है, वह सम्यग्दर्शन भी क्षायिक सम्यग्दर्शन के समान है। मैं जिस सम्यग्दर्शन से चला हूँ, उससे च्युत हुए बिना अप्रतिहत भाव से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला हूँ–ऐसी ध्वनि भगवान के आत्मा में से उठी है।

अहा! देखो तो यह गाथा –

जो जाणदि अरहन्तं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

इसमें केवलीभगवान के अन्तर का रहस्य भर दिया है। अरिहन्त परमात्मा में पूर्णता है, उनमें किंचित् राग-द्वेष नहीं है, इसलिए मुझमें भी नहीं है, उनके अपूर्णता नहीं है, इसलिए मुझमें भी अपूर्णता नहीं है। इस प्रकार पर्याय में राग-द्वेष और अपूर्णता होने पर भी, उसका निषेध करके, पूर्ण स्वभाव की दृष्टि में अपूर्णता का नाश करने की दृष्टि हो गई, इससे सम्यग्दर्शन हो गया। पश्चात् इसी पूर्णस्वभाव में लीनता द्वारा मोह का क्षय करके आत्मा स्वयं परमात्मा होता है। इस प्रकार कहकर फिर ८२ वीं गाथा में आचार्यभगवान कहते हैं कि –

सव्वे विय अरहन्ता, तेण विधाणेण खविद कम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं॥८२॥

देखो तो! कुन्दकुन्दभगवान के वचन कहाँ से आये हैं! ऐसा एक भी वचन कोई लाओ तो! 'सव्वे विय अरहन्त'–ऐसा कहने में अपनी प्रतीति का अपार बल है। और खविद कम्मंसा–कर्मों का क्षय किया,–इस प्रकार क्षपक की ही बात ली है। आत्मा के ज्ञान द्वारा स्वभाव का आश्रय करके ही सर्व अरिहन्तों ने कर्मांशों को खपा दिया है, और फिर उन्होंने उपदेश भी ऐसा ही किया है, इसलिए यह एक ही मोक्षमार्ग है। समस्त अरिहन्तों ने इसी मार्ग से मोक्ष प्राप्त किया है, और समवशरण में दिव्यध्वनि द्वारा जगत् को इसी मार्ग का उपदेश दिया है;–ऐसा कहकर स्वभाव के उल्लास से आचार्यदेव कहते हैं कि 'णमो तेसिं'–अहो! उन भगवन्तों को नमस्कार हो।

जो भगवान के श्रीमुख से आया और जिसे आचार्यदेव ने अन्तर में झेला है–वही यहाँ कहा जा रहा है। इसी विधि से सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान प्राप्त होता है, अन्य किसी विधि से नहीं। सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र दोनों में आचार्यदेव ने क्षायिकभाव की ही बात की है।

जिसने अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय किया, वह जीव, राग का अपूर्णदशा का आश्रय नहीं करता; क्योंकि भगवान सर्वज्ञदेव के अपूर्णता या राग नहीं है; इससे इस आत्मा का भी राग या अपूर्णता स्वभाव नहीं है। सर्वज्ञ भगवान एक समय में पूर्ण जानते हैं, उसी प्रकार मेरा भी पूर्ण जानने का स्वभाव है। इस प्रकार सर्वज्ञ को जाननेवाला जीव, अपनी अवस्था में अपूर्णज्ञान होने पर भी, वह मेरा स्वरूप नहीं है—परन्तु पूर्ण ज्ञान ही मेरा स्वरूप है—इस प्रकार अपने पूर्ण स्वभाव का आश्रय करके उसकी प्रतीति करता है।

(५) भगवान कहते हैं कि तुझमें सर्वज्ञ परमात्मा होने की शक्ति भरी हुई है।

भगवान का उपदेश यही है कि हे भव्य जीवो! तुम अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करो! तुम्हारे आत्मा में भी सर्वज्ञस्वभाव भरा हुआ है। भगवान होने की परिपूर्ण शक्ति तुममें भरी है; उसकी श्रद्धा करके उसका सेवन करो तो परमात्मदशा प्रगट हो। जिस प्रकार मोर के अण्डे में ही सुन्दर रंग-बिरंगा मोह होने की शक्ति है, इससे उमसें से मोर होता है। वह मोर होने की शक्ति अण्डे के ऊपरवाले छिलके में से या मोरनी के पंखों में से नहीं आयी है। उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र होने पर उसी में से परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। वह परमात्मदशा किन्हीं बाह्य कारणों से अथवा राग से नहीं होती। पूर्ण स्वभाव की ओर ढ़लने पर सम्यक्-मति-श्रुतज्ञानरूपी कला में से केवलज्ञानरूपी सम्पूर्ण कला विकसित हो जाती है। आत्मा की कला इस प्रकार की है। इसके अतिरिक्त बाह्य में बुद्धिमानी बतलाए, वह आत्मा की कला नहीं है। अखण्ड स्वभाव की ओर ढ़लनेवाले मति-श्रुतज्ञान भी पूर्ण जैसे ही हैं; क्योंकि वह भी अपूर्णता का निषेध करके पूर्ण स्वभाव के आश्रय से ही कार्य करते हैं। जो ज्ञान, अपूर्णता का निषेध करके अर्थात् व्यवहार का ही निषेध करके पूर्ण स्वभाव का आदर और आश्रय करता है, वह ज्ञान पूर्णता प्राप्त करता है।

'तुम आत्मा का धर्म नहीं कर सकते, तुम्हें किसी दूसरे की सहायता लेनी पड़ेगी'— इस प्रकार भगवान ने पराश्रय नहीं बताया है। भगवान ने तो स्वाश्रय बतलाया है कि आत्मा में पूर्ण सामर्थ्य है, अपने ही आश्रय से वह धर्म और मुक्ति प्राप्त करता है, उसमें किसी दूसरे की मदद की आवश्यक्ता है ही नहीं। जैसे—बैटरी में पावर भरा रहता है, इससे चांप दबाकर उसे पावर के साथ मिलाने से प्रकाश प्रगट होता है, उसीप्रकार आत्मा में परिपूर्ण चैतन्य पावर भरा है, उसकी श्रद्धारूपी चांप दबाकर उसमें एकाग्र होने से चैतन्यप्रकाश प्रगट होता है।

भगवान के श्रीमुख से मुनिवर—आर्जिका, श्रावक-श्राविका, देव-देवी, और तिर्यंच आदि की बारह सभाओं में ऐसा उपदेश प्रगट हुआ और अनेक जीव उसे समझकर आत्म-स्वभाव की

महिमा की ओर उन्मुख होने से अपूर्व धर्म को प्राप्त हुए। अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों शुद्ध हो गये हैं, तीनकाल, तीनलोक का ज्ञान एकसमय में वर्त रहा है, चार अघाति कर्मों का संयोग बाकी है, उसकी भी त्रिकाल की अवस्था का ज्ञान वर्त रहा है, और राग-द्वेष-मोह का सम्पूर्ण क्षय हो गया है। अहो! ऐसे अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जो जीव जानता है, उसे केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता। जो आत्मा के सर्वज्ञपद को समझे उसे अल्पकाल में परमात्मदशा होती ही है।

(६) अरिहन्तों को नमस्कार

८२ वीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि–'उपदेश पण अेमज करी निर्वृत्तथया, नमुं तेमने' भगवान ने स्वयं सर्वज्ञपद प्राप्त करने के पश्चात् उपदेश भी ऐसा ही किया–इस प्रकार यहाँ उपदेशवाले भगवान की बात ली है, इससे उसमें तीर्थंकर की मुख्य बात है। तीर्थंकर भगवान अप्रतिहत पुरुषार्थवाले होते हैं; उन्होंने स्वयं जिस विधि से केवलज्ञान प्राप्त किया, उसी विधि को उपदेश अन्य मोक्षार्थी जीवों को दिया। उन्हें मेरा भाव से और द्रव्य से त्रिकाल नमस्कार हो! अहाहा! यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य भगवान स्वयं अरिहन्तों को नमस्कार करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं छटठें-सातवें गुणस्थान में आत्मा की चारित्रदशा में वर्त रहे थे, वे महान सन्त थे।

(७) सन्तों का स्मरण और साधुपद की महिमा

पहले श्री सर्वज्ञ अरिहन्त भगवन्तों को वाणी में याद किया; अब श्री सन्तों को याद करते हैं। आज प्रातःकाल भगवान के चारित्र का दीक्षा कल्याणक प्रसंग हुआ था, इससे चारित्र का विशेष स्मरण हो रहा है। देखो! चारित्रदशा और साधुपद कैसे होते हैं? गणधरदेव भी इस पवित्र पद को नमस्कार करते हैं। छट्ठें गुणस्थान में विकल्प उठने से गणधरदेव भी नमस्कार मन्त्र बोलते हैं; उसमें कहते हैं कि–'णमो लोए सव्व साहूणं'–इस प्रकार जिनके चरणों में श्री गणधरदेव का नमस्कार पहुँचता है–ऐसा साधुपद होता है।

परमागम श्री षट्खण्डागम में मङ्गलाचरण के रूप में नमस्कार मन्त्र है। अपनी धवला टीका में श्री वीरसेनस्वामी बतलाते हैं कि–'णमो लोए सव्व साहूणं'–इस पद में जो 'लोए सव्वं' शब्द है, वह अन्तदीपक होने से उपरोक्त चारों पदों में भी उसका अर्थ ले लेना चाहिए। वह इस प्रकार है –

णमो लोए सव्व अरहंताणं।
णमो लोए सव्व सिद्धाणं।
णमो लोए सव्व आइरियाणं।

णमो लोए सव्व उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं।

इस प्रकार इसमें त्रिकाल के सभी पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया है। एक क्षण पहले साधु हुआ हो, उसका भी इनमें समावेश हो जाता है। गणधरदेव ऐसे तो किसी साधु को नमस्कार नहीं करते, परन्तु जब नमस्कार मन्त्र बोलते हैं तब–'णमो लोए सव्व साहूणं'–कहने से उसमें लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार आ जाता है। हे सन्तों! हे मुनिओं! दो घड़ी में बारह अंगों की रचना करनेवाला मैं गणधर, तुम्हें नमस्कार करता हूँ! ऐसा विकल्प छठवीं भूमिका में होता है। उसके पश्चात् वंद्यवंद्यकभाव का विकल्प नहीं होता।

केवलज्ञान के स्वामी श्री तीर्थंकर भगवान तीनलोक के नाथ, चैतन्यसम्राट हैं और चार ज्ञान के स्वामी गणधरदेव उनके मंत्री हैं। वे दो घड़ी में बारह अंगों की रचना करने का सामर्थ्य रखते हैं। अहा! ऐसे गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करते हैं, ऐसे साधुपद की और चारित्रदशा की कितनी महिमा! ऐसी उत्कृष्ट चारित्रदशा कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के प्रवर्तमान थी। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र के गणधरदेव सर्व साधुओं को नमस्कार करते हैं, उनमें पंचमकाल के साधु भी साथ आ जाते हैं।

यहाँ प्रवचनसार की ८२ वीं गाथा में अरिहन्तों को नमस्कार करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हे नाथ! आप जिस मार्ग से पूर्णदशा को प्राप्त हुए, वही मार्ग हमको दिखलाकर आप निर्वाणदशा को प्राप्त हुए, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। जिसे गणधरदेव नमस्कार करते हैं–ऐसे साधुपद का धारक मैं आप को नमस्कार करता हूँ। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचनसार के मङ्गलाचरण में गणधरादि सर्व सन्तों को भी नमस्कार किया है। इस प्रकार गणधर और मुनि अरिहन्त भगवान को नमस्कार करते हैं। गणधरदेव नमस्कार मन्त्र द्वारा मुनिओं को नमस्कार करते हैं, और कुन्दकुन्दाचार्यदेव, गणधरादि सन्तों को नमस्कार करते हैं। शुभ विकल्प उठा है, इससे पर को नमस्कार करने का भाव है, वास्तव में तो वे राग का निषेध करके अन्दर स्वरूप में ढ़लते जाते हैं–वही भाव नमस्कार है।

(८) स्वतन्त्रता की घोषणा

भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि हे जीवो! तुम स्वतन्त्र हो! स्वतन्त्र हो! स्वतन्त्र हो! द्रव्य से, गुण से और पर्याय से भी स्वतन्त्र हो। पराधीनता को याद मत करना। तुम्हारा वर्तमान समय तुम्हारे हाथ में है; पूर्व के विकार का तो व्यय हो जाता है; अब वर्तमान समय को - वर्तमान अवस्था को स्वभावोन्मुख करने के लिए तुम स्वतन्त्र हो। तुम्हारे केवलज्ञान की तैयारी तुम्हारे ही

हाथ में है। तुम अपने परिपूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख होओ! वर्तमान की अपूर्णता का आश्रय मत करना, पूर्व की विकारी पर्याय को याद मत करना, क्योंकि उनका तो वर्तमान में अभाव है। संयोग के सम्मुख मत देखना; क्योंकि उसका आत्मा में त्रिकाल अभाव है।

(९) दिव्यध्वनि के श्रोताओं ने क्या किया?

ऐसा स्वभाव-आश्रय का उपदेश सुनकर अनेक पात्र जीव अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुए और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। अनेक जीवों ने स्वरूप में स्थित होकर चारित्रदशा प्रगट की। जिनके यहाँ एक-एक क्षण में करोड़ों स्वर्ण मुहरों की आमदनी हो, ऐसे राजाओं को आठ-आठ वर्ष की कुमारियाँ भी भगवान का उपदेश सुनकर–'अहो! हमारा आत्मा ऐसा है!'–इस प्रकार स्वभाव की रुचि करने से सम्यक्दर्शन को प्राप्त हो गई। मेंढक भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो गये। मेढ़कों के भीतर भी आत्मा है न! आत्मा कहाँ मेंढक शरीररूप हो गया है? मेंढक की व्यंजनपर्याय छोटी है, परन्तु आत्मा के ज्ञान का छोटी-बड़ी व्यंजनपर्यायों के साथ सम्बन्ध नहीं है। एक जीव ५०० धनुष की व्यंजनपर्यायवाला हो और दूसरा जीव ७ धनुष की व्यंजनपर्यायवाला हो; वे दोनों केवलज्ञान प्राप्त करें तो वहाँ दोनों का केवलज्ञान समान ही है। क्षेत्र के विस्तार से (व्यंजनपर्याय से) आत्मा की महत्ता नहीं है, परन्तु भावों की बड़ाई से (अर्थपर्याय से) आत्मा की महत्ता है। किसी के ५०० धनुष का शरीर हो, तथापि विपरीत भावों से मरकर नरक में जाता है, और किसी के छोटा शरीर हो, फिर भी केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होता है। इसलिए हे भाई! तू शरीर की आकृति का अथवा आत्मा की छोटी बड़ी व्यंजनपर्याय का लक्ष्य छोड़कर, आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से बड़ा है, उस स्वभाव को देख! जंगल में से बड़े-बड़े सिंह-बाघ और रीछ चिंघाड़ते हुए आते हैं और भगवान के पास आकर शान्त होकर बैठ जाते हैं, तथा वाणी सुनकर अन्तरोन्मुख होने से वे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। महान फणधर फुंकार मारते हुए आते हैं और अन्तर में स्थित हो जाते हैं कि अहो! हम तो अमृतस्वरूप हैं। डाढ़ में विष भरा है, लेकिन भान है कि–यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं को अमृतमय चैतन्य भगवान हूँ–ऐसा भगवान का प्रताप है, ऐसा निमित्त से कहा जाता है; वास्तव में तो प्रत्येक जीव की अपनी योग्यता का ही प्रताप है।

(१०) जैनशासन और उसमें कहा हुआ राग को दूर करने का उपाय

भगवान को पूर्व में छद्मस्थदशा में पूर्ण होने का विकल्प था, उस समय वाणी का बन्ध हुआ, और भगवान पूर्ण सर्वज्ञ हुए, उस समय सहजरूप से रागरहित अभेद वाणी खिरी, उसमें अभेद स्वभाव की ओर उन्मुख होने का उपदेश है। जो जीव अभेद स्वभाव को पकड़ ले, वह जीव भगवान की वाणी को समझा है। अभेद स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसमें स्थिर होना ही

जैनशासन है; बीच में भेद पड़े और राग हो, वह जैन-शासन नहीं है। साधकदशा में राग का निषेध करके स्वभावोन्मुख होने के लिए राग का ज्ञान होता है, परन्तु जो राग होता है, वह जैनशासन नहीं है; और वह राग करने का उपदेश नहीं है; रागरहित अखण्ड ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करके रागरहितरूप से स्थिर हुआ, वही जिनशासन है। वास्तव में तो राग का भी निषेध नहीं करना पड़ता; स्वभाव की ओर एकाग्र होने से राग का निषेध हो जाता। 'राग का निषेध करूँ'–ऐसा विकल्प करे तो वहाँ उलटी राग की उत्पत्ति होती है और उस राग की उत्पत्ति को राग टालने उपाय माने, वह मिथ्यात्व है। इससे अखण्डानन्द स्वभाव की दृष्टि करके उसमें एकाग्र होना, एक ही राग दूर करने का उपाय है। अन्तर-आत्मा की तैयारी और पात्रता हो तो छोटा सा मेंढक भी ऐसा स्वभाव समझ जाता है; और यदि आत्मा की अपनी पात्रता न हो तो महान विद्वान भी नहीं समझ पाते; कहीं भगवान किसी को समझा नहीं सकते। भगवान ने तो प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा की है। यदि भगवान के कारण कोई समझता हो तो भगवान ने स्वयं जो स्वतन्त्रता कही है, वही नहीं रहती। जो जीव अपनी अन्तरङ्ग पात्रता से जागृत होकर समझते हैं, वे जीव विनयपूर्वक भगवान में आरोप करके कहते हैं कि–अहो नाथ! आपने परम उपकार करके हमें पार उतार दिया, आपने हमें आत्मा समझा दिया; लेकिन उस समय अन्तर में यथार्थ वस्तुस्थिति का भान है।

(११) श्रोताजनों की पात्रता और दिव्यध्वनि का निमित्तपना

'तेरा ज्ञानस्वभाव है, जगत के समस्त जीव अपने-अपने स्वकाल के अनुसार परिणमित हो रहे हैं, उसमें फेरफार करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। तेरे वर्तमान परिणाम तेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध आते हैं; तू अपने वर्तमान परिणामों को स्वोन्मुख करके स्वद्रव्य को निश्चित कर ले!'– ऐसा अरिहन्त भगवान का उपदेश सुनकर अपने परिणाम को स्वभावोन्मुख करने से कोई जीव गणधर हुए, कोई मुनि हुए, कोई अर्जिका हुए, कोई सम्यक्दर्शनसहित व्रतधारी श्रावक-श्राविका हुए; तथा कितने ही जीव मात्र शुभराग करके भी बाहर निकले। जिनके पूर्व का महाभाग्य हो, उन्हें भगवान के समवशरण में ध्वनि सुनने का योग मिलता है, और जिन्हें वर्तमान अपूर्व पात्रता का पुरुषार्थ हो, उन्हीं को उसकी रुचि होती है और समझ में आती है। भगवान की वाणी तो अभेद है, परन्तु प्रत्येक जीव अपनी पात्रतानुसार समझ जाता है। भगवान का उपदेश सुनने से कोई ऐसा समझे कि भगवान की वाणी में मेरे लिए ऐसा आया कि–'तू एकावतारी है,' 'तू भविष्य में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जायेगा,' 'तू तीसरे भव में क्षायिक सम्यक्दर्शन प्राप्त करेगा,' 'तू इसी भव में मोक्ष जायेगा,' 'तू भविष्य में तीर्थंकर होगा,'– इत्यादि प्रकार से सुननेवाले अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं; और 'भगवान ने आज इस प्रकार कहा है' ऐसा अपनी समझ का

निमित्त में आरोप करके कहते हैं। वाणी में तो एक ही साथ सबकुछ आता है, परन्तु जो श्रोता अपनी योग्यता से जितना समझे, उसके लिए उतना ही निमित्त कहलाता है। जिस समय श्रीकृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न खो गया था, उस समय का उस सम्बन्ध में पूछने के लिए नारदजी यहाँ से सीमन्धर भगवान के पास समवशरण में गये थे, उन्हें वाणी सुनने से प्रद्युम्न का सारा हाल समझ में आ गया; उसी समय दूसरे श्रोताओं में किसी को द्रव्यानुयोग, किसी को करुणानुयोग और किसी को चरणानुयोग समझ में आया। वहाँ अपनी पात्रता से सब लोग जो जिसकी समझ में आया, उसे समझने में भगवान की वाणी को निमित्त कहते हैं। नारदजी कहते हैं कि आज भगवान ने प्रद्युम्न-चरित्र कहा, द्रव्यानुयोग समझनेवाले कहते हैं कि आज भगवान ने द्रव्यानुयोग का अपूर्व उपदेश किया, करणानुयोग समझनेवाले कहते हैं कि करणानुयोग कहा और चरणानुयोग समझनेवाले कहते हैं कि चरणानुयोग कहा; उस समय एक साथ उन सबको निमित्त हो—ऐसी योग्यता भगवान की दिव्यवाणी में ही है। जो जीव केवली भगवान के उपदेश को समझते हैं, उन्हें केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

भगवान की दिव्यध्वनि में एकसाथ अनन्त रहस्य आता है; वाणी द्वारा कहने में उसका पार नहीं आ सकता; जो भगवान के आशय को समझता है, वह पार को प्राप्त होता है।

यह मनुष्यत्व प्राप्त करके क्या करने योग्य है?

(चोटीला ग्राम में पद्मनन्दि पंचविंशतिका गाथा १२ पर पूज्यश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

आत्मा के यथावत् स्वरूप का यथार्थ ज्ञान जीव ने अनन्तकाल में एक क्षणमात्र भी नहीं किया। अनादि से पुण्य-पाप के आचरण करके उसी को अपन स्वरूप माना है। पुण्य-पाप रहित निर्मल चैतन्य-स्वरूप का भान नहीं है और जिसप्रकार नट लोग भेष को अपना स्वरूप मानते हैं, उसी प्रकार यह जीव विकार को ही अपना स्वरूप मान रहा है। भगवान ने पुण्य-पाप रहित निर्मलानन्द आत्मस्वभाव कहा है—उसे जाने तो मुक्ति हुए बिना न रहे। आत्मा में पूर्ण जानने की

शक्ति है। भगवान सबके ज्ञाता हैं, लेकिन किसी का कुछ करनेवाले नहीं हैं। आत्मा अपने को भूलकर अनन्तकाल से अवतारों में परिभ्रमण कर रहा है, वह अवतार कैसे दूर हों, उसकी यह बात है। पूर्व में जीव ने आत्मस्वभाव की बात सुनी है, परन्तु अन्तर में उसकी रुचि नहीं की है। भाई ! तूने अनन्तकाल में आत्मा को नहीं समझा है; वह अपूर्व है, मन-वाणी-देह रहित ज्ञानमूर्ति स्वभाव है, उसकी सतसमागम से पहचानकर ! मनुष्यत्व प्राप्त करके यह करने योग्य है। यह शरीर तो राख हो जायेगा, और आत्मा अन्यत्र कहीं चला जायेगा– उस आत्मा का स्वरूप क्या है, उसे जान !

इस जगत में अज्ञानीजन आत्मा की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना करते हैं। जिस प्रकार अन्धे लोग हाथी को देखते हैं, वहाँ जिसके हाथ में पैर आया, वह कहता है कि हाथी खम्भे जैसा है; जिसके हाथ में सूँढ आयी, वह कहता है कि हाथी सम्बल जैसा है; जिसके हाथ में कान आया, वह कहता है कि हाथी सूप जैसा है; जिसके हाथ में पूँछ आयी, वह कहता है कि हाथी झाड़ू जैसा है। इस प्रकार वे अन्ध लोग हाथी के एक-एक अङ्ग को ही हाथी मानते है; क्योंकि उन्होंने सम्पूर्ण हाथी को नहीं देखा है। उसी प्रकार आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को न जाननेवाले अज्ञानी एक पक्ष को ही आत्मा मान लेते हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, स्वच्छता, प्रभुता इत्यादि अनन्त धर्म हैं; वैसे आत्मा को जो नहीं जानते, वे उसे एकान्त नित्य या सर्वथा क्षणिक मानते हैं। कोई रागादि को आत्मा मानते हैं, परन्तु शरीर और रागादि से भिन्न परिपूर्ण आत्मा कैसा है, उसे अनन्तकाल में एक क्षणमात्र भी नहीं जाना। यदि आत्मा में परिपूर्ण स्वभाव को एक क्षणमात्र भी जाने तो सम्यग्ज्ञान होकर मुक्ति हुए बिना न रहे। इसलिए इस मनुष्यभव में यही करने योग्य है।

भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि भाई ! जो हमारे आत्मा की जाति है, वही तुम्हारी है। हमारा और तुम्हारा अत्मा पृथक् है, परन्तु जाति एक ही है। जिस प्रकार गेहूँ के बोरे में प्रत्येक दाना भिन्न-भिन्न है, परन्तु सबकी जाति एक ही है। उसी प्रकार इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, वे प्रत्येक पृथक् हैं; किन्तु उनकी जाति एक है। प्रत्येक आत्मा में सिद्ध भगवान जैसी परिपूर्ण शक्ति भरी पड़ी है; उसे भूलकर अज्ञानी जीव, पर में और पुण्य-पाप में सुख मानता है। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य सूँढ़ को ही हाथी मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी क्षणिक पुण्य की वृत्ति में ही सुख मानता है, अर्थात् वह विकार को ही आत्मा मानता है, उसे आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता, परन्तु विकार का स्वाद आता है। सम्यग्दर्शन होने पर आतमा के आनन्द का स्वाद आता है। जिस प्रकार आँख खुलने पर सम्पूर्ण हाथी दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जब सत्समागम से भान किया कि यह पुण्य-पाप तो मेरे स्वभाव की विपरीतदशा है, उसमें दुःख है, यह मेरा स्वरूप नहीं है; पुण्य-

पाप रहित मेरे स्वभाव में सुख है– ऐसा जानकर सम्यग्ज्ञान प्रगट प्रगट करने से आत्मा ज्ञात होता है। भाई ! ऐसा मनुष्य भव प्राप्त करके सच्चा ज्ञानरूपी डोरा अपने आत्मा में पिरो ले तो तेरा आत्मा संसार में नहीं खोयेगा। जिसप्रकार सुई में डोरा पिरोया हो तो वह कूड़े में नहीं खो सकती, उसी प्रकार जो आत्मा के सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले, वह जीव इस संसार के अवतारों में परिभ्रमण नहीं कर सकता।

अज्ञानी जीव, त्रिकाल निर्मल आत्मा को भूलकर विकार को ही आत्मा मानता है– वह उस अंधे मनुष्य की तरह एकान्तवादी है, और आत्मा की अवस्था में विकार होता है, वह अपना दोष है; उस क्षणिक दोष को न जाने और आत्मा को एकान्त शुद्ध माने, वह भी एकान्तवादी-अज्ञानी है। क्षणिक अवस्था में विकार है और त्रिकाल-स्वरूप विकाररहित निर्मल है–इस प्रकार दोनों पक्ष जानकर सम्यग्ज्ञान प्रगट करना चाहिए। आत्मा में ज्ञानस्वभाव भरा हुआ है, पचास वर्ष पूर्व की बात जानने के लिए ज्ञान को समय नहीं लगता। जिसप्रकार कल की बात याद करता है, उसी प्रकार पचास वर्ष पहले की बात याद करता है–ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य है; और यदि वह ज्ञान आगे बढ़े तो इस भव, पूर्व भव और अनन्तकाल का ज्ञान करे–ऐसी आत्मा की शक्ति है। खाते-बही में तो पाने उलटना पड़ते हैं, परन्तु ज्ञान में पाने नहीं उलटना पड़ते। ज्ञान का स्वभाव एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जानने की शक्तिवाला है; और ज्ञान में अधिक जानने से भार मालूम नहीं पड़ता। त्रिकाल स्वभाव में से ज्ञान का प्रवाह आता है। अज्ञानियों को अनन्तकाल से चैतन्यसामर्थ्य की महिमा नहीं आयी है, जो चैतन्य-सामर्थ्य की महिमा जान ले, उसे सम्यग्ज्ञान हुए, बिना न रहे, और एक क्षण भी ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, उसे जन्म-मरण का नाश हुए बिना न रहे।

धर्म अन्तर की अपूर्व वस्तु है, वह बाहर से जानी जा सके, वैसी नहीं है। ऐसे आत्मा का भान होने के पश्चात् धर्मी जीव स्त्री-पुत्रादि के संयोग के बीच में हो, परन्तु जिसप्रकार मुर्दे पर श्रृंगार किया हो तो उससे कहीं मुर्दा राजी नहीं होता, उसी प्रकार धर्मी जीव को बाह्य संयोग की और राग की अन्तर में प्रीति नहीं है; उसे पर का अहंकार अन्तर में से उड़ गया है; गृहस्थपने में होने पर भी वह धर्मी है। और आत्मा की पहचान के बिना त्यागी हो तथा शुभभाव करके उसका अंहकार करे, वह अधर्मी है, वह संसार में परिभ्रमण करता है।

'भाई ! तू चैतन्य है, तुझमें सुख भरा हुआ है, परन्तु उसे भूलकर तुझे बाह्य में सुख की कल्पना हो गई है। भाई ! तेरा सुख बाह्य में नहीं है; बाह्य के लक्ष्य से क्षणिक शुभाशुभ विकार होता है, उसमें भी तेरा सुख नहीं है। अन्तर में विकाररहित स्थायी ज्ञान-स्वभाव है, उस स्वभाव में तेरा

सुख है। आत्मा अतिशय चैतन्य का भण्डार है; कल का पापी भी आज धर्म प्राप्त कर लेता है; शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि राजा लोग जंगल में शिकार खेलने गये, वहाँ मुनि का समागम होने से आत्मभान प्राप्त करके धर्मी हो गये हैं। अनन्तकाल में प्रत्येक जीव ने महान पाप किये हैं, परन्तु यदि सत्य को समझना चाहे तो एकक्षण में समझकर धर्म प्राप्त कर सकता है। धर्मी जीवों ने अन्तर में चैतन्य की क्रिया की है; अज्ञानी जीव उनकी बाह्य क्रिया और पुण्य की नकल करके धर्म मानते हैं; परन्तु अन्तर में देह से और पुण्य से भिन्न क्या तत्त्व है—उसकी पहचान करके उसमें एकाग्रता की क्रिया से ज्ञानी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।'

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अतिशय चैतन्यरूपी तेज से परिपूर्ण है, वह तुम्हारी रक्षा करे। अर्थात् जब उसे पहचानकर अनादि का अज्ञान टालना चाहे, तब टल सकता है। अनादि का अज्ञान एकक्षण में दूर हो जाता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि अतिशय चैतन्य तेज से परिपूर्ण आत्मा जयवन्त प्रवर्तमान रहे। हे आत्माओं! इसकी तुम पहचान करो, वह तुम्हारी रक्षा करेगा! चैतन्यशक्ति में केवलज्ञान भरा हुआ है, उसका विश्वास करो! यह मनुष्यत्व प्राप्त करके यही करने योग्य है।

चार गति के भ्रमण से छूटने का उपाय

(श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका गाथा ११ पर पूज्यश्री कानजीस्वामी का व्याख्यान)

इस अधिकार का नाम सद्बोध चन्द्रोदय अधिकार है। जिस प्रकार चन्द्र की दोज उदित हो, वह पूर्णिमा हुए बिना नहीं रहती, उसी प्रकार एक क्षण भी आत्मा का सम्यग्ज्ञान करे, उसे केवलज्ञान होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। यह जीव अनादिकालीन है, अनादिकाल में इसने दूसरा सब कुछ किया है, परन्तु आत्मा का स्वरूप क्या है, उसका एक क्षणमात्र भी ज्ञान नहीं किया है। आत्मा के भान बिना पुण्य करके अनन्तबार स्वर्ग का देव हुआ और पाप करके नारकी हुआ; मनुष्य और पशु भी अनन्तबार हुआ। देव आयें, वहाँ अपूर्वता मालूम होती है, परन्तु यह कोई अपूर्व नहीं है; जीव स्वयं अनन्तबार देव हुआ है। आत्मा का स्वरूप सिद्ध समान है, उसकी यथार्थ समझ अनन्तकाल में एक क्षण भी नहीं की है—वह समझ ही अपूर्व है। जिस प्रकार लाखों मन घास को जलाने के लिए लाखों मन अग्नि की आवश्यक्ता नहीं होती, किन्तु एक चिंगारी ही बस है; उसी प्रकार अनन्तकालीन अज्ञान को दूर करने के लिए एक क्षण का सम्यग्ज्ञान ही बस है। एक क्षण का सम्यग्यज्ञान प्रगट करे, वहाँ अनन्तकाल का अज्ञान दूर हो जाता है। एक क्षण भी शरीर से भिन्न आत्मा का सम्यग्ज्ञान हो तो मुक्ति हुए बिना न रहे। आत्मा के भान बिना जो कुछ जितना किया जाये, वह सब इकाईरहित शून्य के समान है। आत्मस्वभाव का भान नहीं है और तप, व्रतादि के द्वारा धर्मीपना मानता है। वह मूर्ख है, और वह चार गतियों में परिभ्रमण करता है।

गाथा—११

जिस प्रकार नाटक में पात्र करनेवाला मनुष्य अमुक वेष धारण कर उस वेष को ही अपना स्वरूप मान ले, तो वह मूर्ख है। ब्राह्मण हो और राजा का वेष धारण किया हो, परन्तु वास्तव में वह राजा नहीं है, तथापि राजा के वेष से अपने को राजा ही मान ले, तो वह मूर्ख है। उसी प्रकार आत्मा ब्रह्म-स्वरूप ज्ञानमूर्ति है, भिन्न-भिन्न शरीर और रागादि भाव—वे पृथक्-पृथक् वेष हैं, वह उसका मूलस्वरूप नहीं है, मूलस्वरूप तो ज्ञानमूर्ति है; उसके बदले जो क्षणिक रागादि जितना और शरीरयुक्त ही अपने को मानता है, वह अज्ञानी है। आत्मा में जो शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी पुण्य-पाप होते हैं—वे सब क्षणिक वेष हैं, उनसे रहित मूलस्वरूप स्थायी ज्ञानस्वरूप है। भाई! अपने मूलस्वरूप की तुझे अनादिकाल से खबर नहीं है और क्षणिक वेष को ही तू अपना स्वरूप मानता है। अपने मूलस्वरूप की खबर नहीं है, इससे बाह्य वस्तुओं में अपनत्व बतलाता है—वह अधर्म है। आत्मा के भान बिना दया, दानादि के भाव करे, उनमें पाप नहीं परन्तु पुण्य है और उससे स्वर्ग

मिलता है; उन दया-दानादि के शुभभावों को धर्म माने तो वह अज्ञान है, और उन दया-दानादि के शुभ परिणामों को पाप माने तो वह भी अज्ञान है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप रहित ज्ञानस्वरूप है,–उसका भान करे तो धर्म होता है और चार गतियों का परिभ्रमण दूर हो जाता है।

आत्मा अनादि-अनन्त शान्तमूर्ति है, विकार उसका स्वरूप नहीं है। जो विकार होता है, वह उसके मूलस्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो गया है; यदि आत्मा के अन्तरस्वरूप में विकार प्रविष्ट हो गया हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकता। जीव अनन्तबार महान सम्राट भी हुआ और भिखारी भी अनन्तबार हुआ; परन्तु वह तो पुण्य-पाप का फल है। पुण्य-पाप दोष है, उस दोषरहित आत्मा का स्वरूप क्या है–वह जिसने नहीं जाना और अपने को धर्मी मानता है, वह जीव मूर्ख है–जड़ है। जिस प्रकार सोने के पाट पर भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र लिपटे हों, परन्तु अन्दर जो सोना है, वह तो समान ही है; उसी प्रकार स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, मनुष्य, हाथी, देव इत्यादि दिखायी देते हैं– वे सब तो शरीर के प्रकार हैं, अन्तरंग शक्ति से तो सभी का आत्मा परिपूर्ण भगवान जैसा है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानमूर्ति है।–इसका भान करे तो धर्म हो। इस समय पूर्व महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान अरहन्त पद पर विराज रहे हैं, उनके केवलज्ञान वर्त रहा है, वाणी द्वारा इच्छा के बिना उपदेश निकलता है कि–हे आत्मा तेरा ध्रुव नित्यानन्द स्वभावी आत्मा है, वह तूने कभी नहीं जाना। प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण परमात्मा होने की शक्ति भरी है, उसकी प्रतीति करके एकाग्र हो तो परमात्मदशा का आनन्द प्रगट होता है। पुण्य तो क्षणिक विकार है, वस्तु-स्वभाव उससे रहित है, उसे न जाने और पुण्य को धर्म माने तो उससे कहीं धर्म नहीं होता। जिसप्रकार कोई मनुष्य अग्नि को ठण्डा मानकर उसे छुए तो कहीं अग्नि तो उसे जलाए बिना रहेगी नहीं, अग्नि का जो उष्ण स्वभाव है, वह मिट नहीं जायेगा; उसी प्रकार वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा अज्ञानी जीव न माने तो उससे कहीं वस्तुस्वरूप नहीं बदल जायेगा। वस्तुस्वरूप को नहीं जानता और पुण्य-पाप के क्षणिक भावों को अपना स्वरूप मानता है, वह अज्ञानी मिथ्यदृष्टि है। आत्मा नवीन नहीं होता, परन्तु पुण्य-पाप के भाव तो नवीन-नवीन होते हैं, पापभाव बदलकर पुण्यभाव नवीन होते हैं और पुण्यभाव बदलकर पापभाव भी होते हैं। आत्मा त्रिकालस्थायी है, इसलिए आत्मा से वह पुण्य-पाप पृथक् हैं, और शरीरादि संयोग जड़ हैं, वे भी आत्मा से पृथक् हैं। अहो! मैं ज्ञातास्वरूप चैतन्यमूर्ति हूँ–ऐसा भान आठ वर्ष की राजकुमारियाँ भी करती हैं। अहो! शरीरादि और पुण्य-पाप से मैं पृथक् हूँ, चैतन्यस्वभावी परिपूर्ण हूँ–इस प्रकार पहले सच्ची समझ करके रुचि करे, पश्चात् वीतरागता और केवलज्ञान होने में एक-दो भव का समय लगता है, परन्तु अन्तर में आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान का धर्म स्थायी रहता है। अपने स्वभाव से परिपूर्णता है, उसे भूलकर अज्ञानी बाह्य

संयोगों में परिपूर्णता की भावना करते हैं। धर्मी की दृष्टि में पर की रुचि नहीं है, अन्तरस्वभाव की ही रुचि है। रुचि एक पल में पलट सकती है। जिस प्रकार–कुंवारी कन्या, पिता के घर में बढ़ती है और पितृ-सम्पत्ति को अपना मानती है, परन्तु जहाँ सगाई-सम्बन्ध निश्चित हुआ कि तत्काल रुचि पलट जाती है–यह घर मेरा नहीं है, किन्तु जहाँ मेरी सगाई हुई है, वह घर और वर मेरे हैं। उसी प्रकार जीव अनादि से पुण्य-पाप और परवस्तु को ही अपना मान रहा है, परन्तु सतसमागम से जहाँ अन्तर में स्वभाव का भान हुआ, वहाँ पर के ओर की रुचि एकक्षण में पलट जाती है, अनन्तकालीन विपरीत रुचि को बदलते देर नहीं लगती।

जँभाई ले और मुँह में मिश्री की डली गिर जाये–ऐसा यह मनुष्य भव और सतसमागम प्राप्त हुआ है। इसमें यदि आत्मा का भान करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे; इसलिए इस मनुष्यभव में सत्समागम करके आत्मा की पहचान करना चाहिए। यही चार गतियों के भ्रमण से छूटने का मार्ग है।

सम्यक्त्व प्रभु है

सम्यक्त्व वास्तव में प्रभु है, इससे वह परम आराध्य है, क्योंकि उसी के प्रसाद से सिद्धि प्राप्त होती है, और उसी के निमित्त से जीव का ऐसा माहात्म्य प्रगट होता है कि जिससे वह जगत् पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ होकर समस्त जगत को जानता है। सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है कि उससे समस्त सुखों की प्राप्ति होती है। अधिक क्या कहा जाये? भूतकाल में जितने नरपुंगव सिद्ध हुए हैं और भविष्य में होंगे– वह सब इस सम्यक्त्व का ही प्रताप है।

(अनगार धर्मामृत)

निश्चय और व्यवहार का सच्चा ज्ञान कब होता है?

मति-श्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करके द्रव्य में एकता करे, वह निश्चय है, और स्वभाव की एकतापूर्वक सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति, वह व्यवहार है। व्यवहार को जानते हुए जो ज्ञान, व्यवहार में ही रुक जाये, वह ज्ञान व्यवहार से पृथक् नहीं हुआ है अर्थात् उसने निश्चय और व्यवहार को भिन्न नहीं जाना है; इससे वहाँ व्यवहार भी सच्चा नहीं होता। ज्ञान, व्यवहार को जानता अवश्य है, किन्तु व्यवहारज्ञान जितना आत्मा नहीं है—ऐसा समझकर व्यवहार से अलग होकर ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो, तब श्रुतज्ञान प्रमाण होता है और तभी निश्चय-व्यवहार का यथार्थ ज्ञान होता है।

जीव का जो श्रुतज्ञान सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को जानता है, उस श्रुतज्ञान जितना ही आत्मा को स्वीकार करे और उसी पर दृष्टि लगाये रहे परन्तु त्रिकाल ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो वह श्रुतज्ञान मिथ्या है; उसे निश्चय और व्यवहार भिन्न नहीं रहे; किन्तु क्षणिक को ही त्रिकालीरूप मान लिया, अर्थात् व्यवहार को ही निश्चय मान लिया; उसे निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं है। त्रिकाली स्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान ऐसा स्वीकार करे कि 'मैं इन देव-गुरु-शास्त्र से भिन्न हूँ,' तो वह सम्यग्ज्ञान है, और उसे त्रिकाली स्वभाव का तथा वर्तमान पर्याय का यानी निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान है।

(भेदविज्ञानसार)

अहो! सम्यक्दर्शन!

एक क्षणमात्र का सम्यक्दर्शन अनन्त जन्म-मरण का नाश करनेवाला है। एकमात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव अनन्तकाल में सबकुछ कर चुका है, परन्तु सम्यग्दर्शन कभी एक क्षणमात्र भी प्रगट नहीं किया। यदि एक क्षण भी सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो उसकी मुक्ति हुए, बिना न रहे। सम्यक्दर्शन ही मानवजीवन का महान कर्तृव्य है।

(पूज्य श्रीकानजी स्वामी)

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द, मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

1- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

2- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र